११८२ त्री
त्रि५४८८६
मूल२ांकि ७५१-
६५१५.

श्रीकृष्णाय नमः

शुद्धाद्वैतब्रह्मवादनिर्गुणभक्तिमार्गप्रवर्तक-अखण्डभूमण्डलाचार्यवर्य-श्रीश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रादुर्भावितं

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

षड्भिर्व्याख्याभिः समुल्लसितम् ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीकल्याणरायचरणविरचितप्रकाशानुसारि-
हिन्द्यनुवादयुतं च ।

१ श्रीरघुनाथानाम् ... १
२ श्रीकल्याणरायाणाम् ... ६
३ त्रिगृहश्रीगोविन्दराजभट्टानाम् ८
४ श्रीद्वारिकेश्वराणाम् ... २६
५ श्रीव्रजराजानाम् ... ३७
६ केषाञ्चित् ५१

तच्च

श्रीमद्गोस्वामिकुलललामविद्यानुरागिश्रीरणच्छोडलालजीमहाराजपादैः अखण्डसौभाग्यवतीनित्यलीलास्थनिजात्मजाश्रीमतीव्रजप्रियाबेटीजीनां
स्मृत्यर्थं दत्तसम्पूर्णसाहाय्येन

विरजित्तनुजनुश्शुद्धाद्वैतविशारद-
शास्त्रिहरिकृष्णशर्म्मणा
संशोध्यानूद्य

सम्मुद्र्य च

श्रीजीवनेशाचार्यपुष्टिसिद्धान्तकार्यालयात् प्रकाशितम् ।

सार्ध

संवत् १९८३. मूल्यं सपादमुद्रिका सन् १९२७.

मुम्बय्यां
मणिलाल इच्छाराम देसाई इत्यनेन स्वीये 'गुजराती' पत्रस्य
" न्यूस मुद्रणयन्त्रालये "
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् । फोर्ट काळाघोडा, बेक-हाउस लेन.

૨૧૧૨ શ્રી ત્રિકમ લાલજી મૂળશંકર ૭૫-
૬૫।૨

श्रीकृष्णाय नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि[1] ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥
अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥
प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं[2] विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रादुर्भावितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

---

[1] 'खरधर्मिणि' इतिपाठः ।
[2] 'कृष्ण' इतिपाठः ।

अष्टमपत्रे चरमपङ्क्तितोऽवशिष्टम् ।

उच्यते । सा च स्नेहरूपा । तदुक्तं निबन्धे ‘माहात्म्यज्ञाने’ त्यस्य व्याख्याने ‘रतिः स्नेह’ इति । स्नेहस्तु प्रेमैव । न च शाब्दिकोक्तभावार्थविरोधादसङ्गतमिव प्रतिभातीति वाच्यं, निरुक्तेरपि प्रमाणत्वात् । इतरथा ‘कृषेर्वर्ण’ इत्यनुशासनसिद्धस्य कृष्णशब्दस्यानन्दवाचकत्वं गगनकुसुमायमानं स्यादिति भक्तिसरणिकुशलतमाः परिशीलयन्तु । अधुना देशादिसाधनानामसाधकत्वमिति । अधुना कलावित्यर्थः । आदिपदात् कालद्रव्यमन्त्रकर्तृकर्मणां ग्रहणमितरत्स्पष्टम् । उक्तं च तत्त्वार्थदीपे ‘षड्भिः संपद्यते धर्मस्ते दुर्लभतराः कलावि’ति । सर्वसाधनरूप इति, षड्विधसाधनरूप इत्यर्थः । सङ्ख्यातात्पर्यानुरोधेन सर्वपदस्यात्र सङ्कुचितवृत्तित्वात् । दशलीलेति । ‘अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः । मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रय’ इत्येता दशलीला इत्यर्थः । सर्वमेतच्च द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामस्मदार्यैर्विवेचितं विस्तरभयाल्लक्ष्यमात्रमेवोच्यते न कृत्स्नम् । तत्र तावदशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः

२।८२ची
वि५५८।५
३५२।१२ ७५८६४१२-

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भगवद्वदनवैश्वानरावतारश्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभुपूज्यपादप्रणीत

कृष्णाश्रयस्तोत्र ।

यल्लीलालवसंस्पर्शान्न रोचन्तेन्यदाशिषः ।
तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥
यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।
भक्त्याहं तान्निजाचार्यानभिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

जिसकी लीलाका लवमात्र (थोडा) भी भलीभाँति सम्बन्ध हो जानेसे (जीवको) अन्यआशिर्वाद रुचिकर नहीं होते, उस, श्रीराधाके हृदयको आनन्ददानकरनेवाले आनन्दरूप श्रीकृष्णका मैं आश्रय करता हूँ ॥ १ ॥

जिसके कृपाकटाक्षसे पामर जीव भी विना किसी प्रकारके प्रयत्नसे ही श्रीगोविंदको प्राप्त करता है, उन निज श्रीमदाचार्यचरणोंको मैं अर्थ (ग्रन्थसमाप्ति) सिद्धिकेलिये भक्तिपूर्वक अभिवादन करता हूँ ।

ग्रन्थावतरण ।

श्रीकृष्णका आश्रय प्राप्त होनेसे (ऐहिक पारलौकिक) सर्वकार्य सिद्ध होते हैं। निजजनोंके सर्व कार्य सिद्ध हों, इसलिये मानों वरदान करते हों, उस तरह श्रीमदाचार्यचरण कृष्णाश्रयस्तोत्रका निरूपण करते हैं ।

कृष्णाश्रय में दशश्लोक क्यों हैं ?

इस समय देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र, कर्म आदि साधनोंके दूषित होजानेके कारण कर्ममार्गादिसाधन सर्वसाधक नहीं हैं। भगवद्भक्तों के सर्वसाधनरूप एवं चतुर्विध पुरुषार्थरूप भगवान् ही हैं । अर्थात् देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म ये छहों साधन एवं धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंको मिलानेसे दश सङ्ख्या की पूर्ति होती है, और साथ ही इस ग्रन्थका आशय यह भी है कि साधन और साध्य सब भगवद्रूप हैं, इसलिये दशश्लोकोंसेही उनकी भगवद्रूपता सिद्ध कीगई है ।

दूसरा कारण यह है कि भगवान् की लीला सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रयरूप दशप्रकार की है, अतः भगवदाश्रयका निरूपण भी दश श्लोकोंसेही करना उचित है ।

तीसरा हेतु यह बताया जाता है कि दशविध भक्तोंसे सेव्य श्रीकृष्ण हैं, यह दश श्लोकों से दर्शाया है। भक्तोंके भेद निम्नाङ्कित चक्र के अनुसार हैं:—

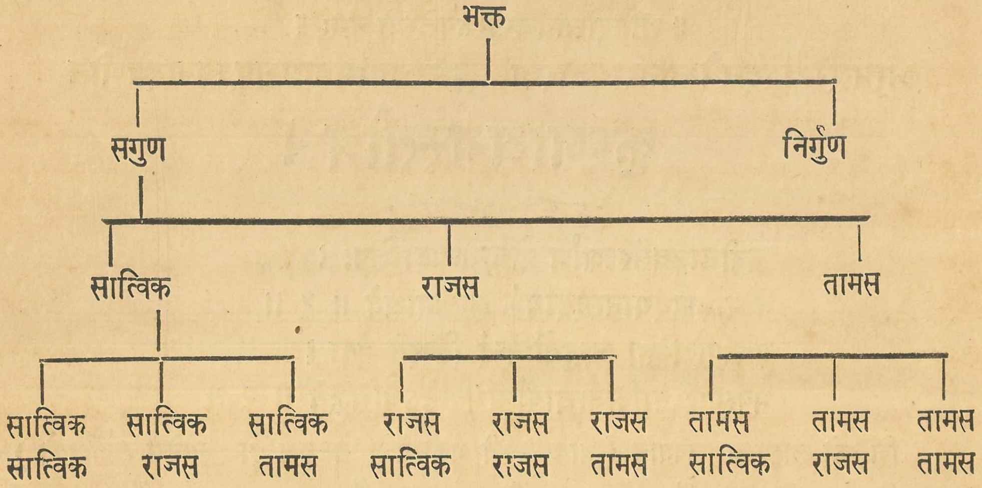
भक्त
सगुण
निर्गुण
सात्विक
राजस
तामस
सात्विक सात्विक
सात्विक राजस
सात्विक तामस
राजस सात्विक
राजस राजस
राजस तामस
तामस सात्विक
तामस राजस
तामस तामस

सगुण के नवप्रकार और एक निर्गुणको मिलाकर दशविधभक्तों से सेव्य श्रीकृष्ण हैं।

चौथा प्रयोजन यह है कि– प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय इन दशविध प्राणों से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं, अतः सर्वकार्यसाधक कृष्णाश्रयका भी निरूपण दश श्लोकोंसे प्रार्थनाके निमित्तसे श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए किया है।

उपर्युक्त देशादि साधनोंमें काल मुख्य होनेकेकारण सबसे पहिले काल पुरुषार्थ-को सिद्ध नहीं कर सकता यह बतानेकेलिये कालधर्मका निराकरण करते हुए श्रीकृष्णकी प्रार्थना करते हैं—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम॥ १॥

अन्वय—कलौ खलधर्मिणि सति, लोके पाषण्डप्रचुरे सति, सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु, कृष्ण एव मम गतिरस्तु।

कलिकालके खल (दुष्ट) धर्मयुक्त होनेपर, लोकके विशेष कर पाषण्डी होने पर तथा सर्वमार्गोंके नष्ट होनेपर भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरी गति–आश्रय होवै।

कलिकाल खलधर्मी है। खल पुरुष अन्तर्दुष्ट होता है। जो व्यक्ति अन्तर्दुष्ट होता है, वह सत्कार्य में बाधक रहता है। कहीं कहीं "खरधर्मिणी" ऐसा भी पाठ है वहां जिसकी चेष्टा दुःसह हो ऐसा कलिकाल प्रवर्तमान होने पर–सदानन्द भगवान् ही मेरी गति–आश्रय–ऐहिक पारलौकिक अर्थ साधक–होवै। सारा संसार पाषण्डप्रचुर बन गया है, अत एव

सब मार्ग—कर्म ज्ञान आदि पुरुषार्थ के साधन प्रायः नष्ट होगये हैं। कर्मादि मार्ग नष्टप्राय होगये उसका प्रकार निम्नलिखित है—

आध्यात्मिक यज्ञादि कर्म करनेवालेको चित्तशुद्धिद्वारा आत्मसुख—अन्तःकरणकी प्रसन्नता प्राप्त होना—ऐसा जिसका अर्थ है वैसा स्वर्ग प्राप्त होवै, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है। उसमें पाषण्डने प्रवेश करके आत्मसुख वाचक 'स्वर्ग' शब्दका 'लोक'के रूपमें भ्रम उत्पन्न किया, उससे कर्ममार्गके द्वारा होने वाली चित्तशुद्धि अटक गई (अर्थात् कर्ममार्ग जो कि आत्मसुखका साधन था, उसको संसार ही जिसका फल है ऐसे प्रवाहमार्गका साधन बनादिया)। इसीतरह मायावादका आग्रह करके ज्ञानमार्गका, निरीश्वरवादका अङ्गीकार करके योग(साङ्ख्य)मार्गका और विभूतिपरक होनेसे उपासनामार्गका मुख्यफलसाधकत्व नष्ट करने पर सर्वमार्ग नष्ट हो गये।

शङ्का—भक्तिमार्गीय जीवोंको भी कलिकाल बाध करेगा ही, क्योंकि वे भी तो गृहादिमें आसक्त रहते हैं, लौकिक क्रिया करते है, अतः उनको भी पाप लगनेका सम्भव रहता है, तब फिर आप भक्तिमार्ग से उद्धार होना कहते हैं तथा मुख्यफल साधक कह कर सर्वोत्कृष्टताका समर्थन करते हैं वह असङ्गत प्रतीत होता है। भक्तिमार्ग भी कर्मादि मार्गोंके समान ही है, तब भक्तिमार्गीय आश्रय करनेसे भी क्या होगा?

समाधान—आप कहते हैं वैसा दोष भक्तिमार्गमें नहीं है। अतः कलिकाल भक्तिमार्गीय जीवोंकेलिये बाधक नहीं है। प्रत्युत कलिकालमें थोड़े ही समय में फलसिद्धि होने से वह साधकही है। इसके प्रमाण में श्रीमद्भागवतादिके वाक्य विद्यमान हैं।

"हे राजन्! कलिकाल दोष का निधि है, तथापि उसमें एक महान् गुण विद्यमान है, वह यह कि श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है," "हे राजन्! सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतायुगमें यज्ञोंसे विष्णुका यजन करने से, और द्वापर में उपासना करने से जो गति प्राप्त होती थी वह कलिकाल में भगवान् के नाम सङ्कीर्तनसे होती है" "गुणज्ञ और सारग्राही आर्यजन कलिकी प्रशंसा करते हैं, क्यों कि कलिकालमें केवल कृष्णसङ्कीर्तनसे ही सब काम सिद्ध होते हैं।" इत्यादि।

भक्तों को गृहादि बाधक नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—"हे भगवन्! जो भक्त आपके मङ्गलमय नाम तथा रूपका श्रवण करते हैं तथा दूसरोंको सुनाते हैं, स्वयं ध्यान करते हैं तथा समग्र क्रियाओं में भी आपके ही चरणकमलमें चित्त लगाकर रहते हैं, उनको पुनः संसारमें आना नहीं पडता है। और भी भागवतमें राजा प्राचीनबर्हिके पुत्रोंको भगवान् उपदेश करते हैं कि "हे राजकुमारो! जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें रह कर सत्कर्म करते हैं और मेरी चर्चामें ही

रात दिन बिताते हैं उनको यह संसार बन्धन कर्ता नहीं होता है।" इसी प्रकार ब्रह्माजीने भी स्तुति करते हुये कहा है कि "हे कृष्ण ! जब तक मनुष्य पूर्णतया आपके हुए नहीं हैं तब तक ही उनको रागादि चोरोंसे भय रहता है, घर कारागृहके समान प्रतीत होता है और मोह बेडियोंके समान" इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्तोंके गृह आदि भगवान्केलिये ही होनेकेकारण वे भक्तोंको बन्धनकारक नहीं होते हैं।

भगवद्भक्तोंकी लौकिक क्रियाएं देखनेमें लौकिकवत् हैं, पर वे सब वास्तविक रूपसे अलौकिकके समान ही हैं। क्यों कि नारदजीने व्यासजीकेप्रति कहा है कि–"सब कर्म, जन्ममरणकी जालमें फँसादेनेवाले हैं, अर्थात् कर्म द्वारा कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी आशा व्यर्थ है, तथापि यदि वे कर्म श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ किये जाँय तो अवश्य मोक्षदायक सिद्ध हो सकते हैं" इस प्रमाणके अनुसार भक्तोंके कर्म श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही होनेके कारण लौकिक प्रतीत होनेपरभी उनको अलौकिकके समान ही मानना उचित है।

असमय में भी वैदिक क्रिया कर सकते हैं।

यदि भगवत्सेवाके समयमें वैदिक क्रिया न हो सके तो समयका अतिक्रमण हो जानेसे प्रत्यवाय नहीं होगा। क्यों कि स्वयं भगवान् ही श्रीमुखसे आज्ञा करते हैं कि "मेरी सेवा करते करते यदि वैदिक क्रियाका काल लोप होजाय, तो उस भगवत्सेवापरायण भक्तका लुप्तकाल कर्म तीन करोड महर्षि करलेते हैं" इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि भगवत्सेवा करते हुए यदि वैदिक कर्म यथासमय न हो सके तो उससे प्रत्यवाय नहीं है। इसी प्रकार "भगवान् हृदयमें प्रविष्ट होकर सब पापोंको धोते हैं" "वे भगवदीय मेरे दण्डके पात्र नहीं बनते" इत्यादि वाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि कदाचित् पाप लग भी जाय तो पातकका फल जो नरकादि होना चाहिये वह भक्तों को भोगना नहीं पडता (किन्तु स्मरण रहे कि यदि कोई दम्भसे वैदिक क्रियाओंका त्याग करता है तो वह अवश्य नरक गामी होता है) भगवद्भक्त कीर्तनादिसे ही पापोंको नष्ट करदेते हैं।

आचार शैथिल्य।

प्रपत्ति–शरण–मार्गनिष्ठ जीवों से कदाचित् आचारादिका यथोचित पालन न हो तोभी फलसिद्धि होती है। इसविषयमें अर्जुनके प्रति भागवान् आज्ञा करते हैं कि "हे अर्जुन सब तरहसे अन्य सब धर्मोंका त्याग करके मेरे शरण जा" "अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यरूपसे मेरा भजन करता है तो उसको साधुपुरुष समझना चाहिये। क्यों कि उसका निश्चय उत्तम है" इन भगवद्वाक्यों से, तथा लोकमें मिथ्याचारी, अनाश्रमी होनेपर भी यदि भगवद्भक्त है, तो वह जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है उसी तरह सारे संसारको पवित्र करता है। इसी प्रकार "हे राजन् ! भगवद्धर्ममें आस्था–श्रद्धा-रखनेवाला कभी

प्रमादी होता नहीं है, इतनाही नहीं परन्तु यदि वह आँखें बन्दकर के दौडे तो भी उसको न कहीं ठोकर लगनेका भय रहता है न फिसलनेका । ” इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, कि प्रपत्ति मार्गमें आचारादि के अभावमें भी फल सिद्धि होती है ।

भक्ति समग्र सिद्धिओंका जीवन है ।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि “हे महर्षियो ! भलीभाँति किये हुए यज्ञादि कर्म भी यदि भगवान् में भक्ति उत्पन्न न कर सकें तो वह केवल श्रम ही है ऐसा समझना चाहिये ।” “सत्य और दया से युक्त धर्म तथा तप से प्राप्त की हुई विद्या भी मेरी भक्ति से विहीन मनुष्यको भलीप्रकार पवित्र नहीं बना सकती” । “अच्युत–भगवान् के भाव विना जो निरञ्जन ज्ञान प्राप्त होता है वह भी भलीप्रकार शोभायमान नहीं होता है, तब जो कर्म श्रीकृष्ण को अर्पण नहीं किया जाता वह कैसे सुशोभित होसकता है ? फिर चाहे वह कैसा ही निष्काम क्यों न हो ?” “विविध कामनाओंसे परास्त पुरुषकी आत्मा जिस तरह श्रीमुकुन्दकी सेवा करके शान्ति प्राप्त करती है उस प्रकार यमनियमादि सम्पन्न योगमार्गसे शान्तिलाभ नहीं कर सकती ।” ब्रह्मस्तुति में ब्रह्माजीने भी कहा है कि, “हे भगवन् सकलकल्याणकारिणी आपकी भक्तिको छोड़कर जो लोग विना प्रेमके केवल शुष्क ज्ञानकेलिये क्लेश सहन करते हैं उनको परिणाममें भी क्लेश ही सहन करना पड़ता है, जैसे धान्यके विना छीलकों को कूटनेवालेको परिणाम में छीलकोंके चूर्णके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता” इन विविध प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भक्तिके विना कर्म, ज्ञान, कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते । परन्तु यदि वे भक्तिका सहयोग करें तो सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । अत एव भक्तिही सकल सिद्धिओंका जीवन है ।

निःसाधन भक्ति भी सर्व साधिका है ।

श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय बीस श्लोक बत्तीस और तैंतीसमें कहा है कि “हे उद्धव ! कर्मकाण्ड, तपस्, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, और इसी प्रकार अन्य भी कल्याणके साधनों द्वारा जो जो कार्य सिद्ध किये जाते हैं, वह सब मेरा भक्त अनायास ही भक्तियोगसे प्राप्त करता है ।” इसी तरह गीतामें भी कहा है कि “हे अर्जुन ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी यह चार प्रकारके पुरुष मेरा भजन करते हैं ।” श्रीमद्भागवतमें शुकाचार्य भी कहते हैं कि अकाम हो, सर्वकाम हों या मोक्षकी कामनावाला हो, चतुर पुरुष को तीव्र भक्तियोग से परपुरुष का भजन करना चाहिये ।” ब्रह्माजीने भी भक्तकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि “जो लोग ज्ञान प्राप्त करने की इच्छासे परिश्रम न करके भक्तोंके मुखसे निकली हुई भगवान्‌की पवित्र कथाओंका कानसे श्रवण करते हैं तथा देह, मन, वाणीसे उसका आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वैसे भक्त, हे अजित ! यद्यपि आप तीनों लोक में अजेय हैं तथापि आपको सहज ही में जीत लेते हैं ।” “श्रीपति भगवान्‌के प्रसन्न

होने पर क्या अप्राप्य रहता है? तथापि हे राजन्! भगवान्के भक्त भगवान् की सेवाके विना अन्य कुछभी चाहते नही हैं।" "सर्वदुःखहर्ता प्रभु अपने भक्तको रूप, आरोग्य, और अर्थ भी प्रदान करते हैं।" ये सब वाक्य निःसाधन भक्ति भी सर्व साधिका है ऐसा सिद्ध करते हैं, भक्ति सर्व साधिका है, इतनाही नहीं, किन्तु स्वयं ही फलरूपा है। इसका समर्थन निम्नाङ्कित वाक्य करते हैं। श्रीमद्भागवत द्वितीयस्कन्ध प्रथमाध्याय नवम श्लोक में कहा है कि—"निर्गुणतामें परिनिष्ठित रहने पर भी मुझे प्रभुकी लीलासे आकृष्ट होकर भागवतशास्त्रका अध्ययन करना पड़ा।" और प्रथमस्कन्ध सप्तमाध्यायके दशम श्लोकमें वर्णन किया है कि "श्रीहरिके गुण ही ऐसे मनोमोहक हैं, कि आत्मामें रमण करने वाले जीवन्मुक्तों को भी प्रभुकी निष्काम भक्ति करने की इच्छा होती है।" इसी तरह तृतीयस्कन्ध पंचविंशाध्यायके चौतीसवे श्लोकमें भगवान् कपिल ने मातृचरण देवहूतिको उत्तम भक्तिका लक्षण समझाते हुए कहा है, कि "मेरी चरण सेवामें तत्पर रहने वाले, मेरेलिये ही सब कर्म करनेवाले और सर्वदा एकत्रित होकर परस्पर प्रेमपूर्वक मेरी कथा कहने में आनन्द प्राप्त करनेवाले ऐसे विरल भक्त मेरे साथ एकात्मभावकी—मोक्षकी भी इच्छा करते नहीं हैं" इत्यादि वाक्य भक्ति स्वयं ही फलरूपा है, इस सिद्धान्त को दृढ करते हैं।

आधुनिक समय में कर्मादि मार्गों के अधिकार नष्ट हो जाने के कारण अनधिकारी को कर्मफल प्राप्त नहीं होता है। अतः यदि कर्मादि मार्गोंके अनुसार भी भक्तिमार्ग में रहकर आचरण किया जाय तो अधिकार भेदसे उन मार्गोंमें कहा हुआ गौण अथवा मुख्य फल मिलनेका सम्भव रहता है। भक्तिमार्गमें भक्तको अनुग्रहसे ही अधिकार प्राप्त हो जाता है। यही उपदेश आचार्यचरणोंने निबन्धमें किया है। आपकी आज्ञा इस प्रकार है "इस कलिकाल में सब अधिकार निवृत्त हो गये हैं, पर यदि प्रेम पूर्वक सेवा की जाय तो वह कलियुग भी श्रीकृष्णके भक्तको फलसाधक हो जाता है" इस वाक्यसे यह भी ज्ञात होता है कि कर्मादिसाध्यफल भक्तिमार्गमें अनिच्छा से भी भक्तको प्राप्त होजाता है, जब कि भक्तिसाध्यफल अन्य मार्गों से सम्पन्न नहीं होता हैं। इससे सिद्ध होता है कि अन्यमार्गोंकी तुल्यताका गन्ध भी भक्तिमार्गमें नहीं है।

अब यहां शङ्का होती है कि, कर्मादि मार्गोंकी अपेक्षा उत्कृष्टता भक्तिमार्गमें यदि है भी तो रहने दीजिये, परन्तु उसमें अर्धकृत से तो कर्मादि तुल्यता होनी चाहिये। इस शङ्काका समाधान करते हुए कहते हैं कि "विष्णु सतत स्मरणीय है, कभी विस्मरणीय नहीं है, इस प्रकार सदा विष्णुका स्मरण करनेवालेके सब विधि और निषेध किङ्कर हो जाते हैं।" "जिस मार्गमें स्मृति मात्रसे सकल कल्याणके भाजन प्रभु होजाते हैं उस अजन्मा पुरुष श्रीहरिको मैं शरण हूँ।" "हे श्रीकृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, इस प्रकार जो मेरा स्मरण करता है उस जीवका मैं, जलको भेद कर कमल जिसतरह ऊपर निकलता है उसीतरह नरकसे उद्धार करता हूं।"

"हे माधव, आपके जन अन्यकी तरह जन्म मरणके चक्रमें नहीं गिरते।" "सब शास्त्रोंका मथन करके और वारंवार उनका विचार भी करके एकबात निश्चित हुई है कि नारायण ही सदा ध्यान करने योग्य है।" इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि यदि सर्वांशमें भक्ति न कीगई हो, थोडी भी कीगई हो, तोभी वह भक्ति फलसाधिका है, कर्मादिमार्गमें वैसा नहीं है। अतः प्रकृत विषयमें इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं ॥ १ ॥

पवित्र देश में निवास करनेसे भी धर्मादि पुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है, और आप कहते हैं कि अन्य सब साधनोंका त्याग करके श्रीकृष्णका ही आश्रय करना चाहिये इसमें प्रमाण क्या है ? इस शङ्काका समाधान करते हुए कहते हैं कि पुण्यस्थान भी इस समय पुरुषार्थसाधक नहीं हैं; यही बात श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अन्वयः—देशेषु म्लेच्छाक्रान्तेषु सत्सु च पापैकनिलयेषु, सत्पीडाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव मम गतिः अस्तु।

देश म्लेच्छोंके अधीन हैं। माना कि म्लेच्छोने देशपर आक्रमण किया है, पर यदि म्लेच्छ भी न्यायपरायण हों तो आपकी क्या हानी है ? इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि म्लेच्छ तो मूर्तिमान् पाप ही हैं, और पुण्यस्थान पापरूप म्लेच्छोंके मुख्यस्थान (राजधानी) बने हैं; दूसरा अर्थ किया जाय तो पापियोंका अथवा पापोंका घर हैं, तीसरा अर्थ यह है कि अङ्ग वङ्ग आदि देश म्लेच्छों के अधीन है और पाप के भी मुख्य स्थान बन गये हैं, कि जहां जानेसे ही पुनःसंस्कार प्राप्त होता है। यहां यह भी शङ्का हो सकती है कि पुण्य स्थलोंमें भी वणिक् आदि जातिके भले आदमी रहते होंगे, तो फिरे म्लेच्छोंसे क्या मतलब है ? इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि वणिक् आदि लोक भी स्वधर्माचरण करनेवालों पर जो आफतें आती हैं उनको देखकर किङ्कर्तव्यविमूढ बन गये हैं, अर्थात् स्वधर्मनिष्ठपर जो आफतें आती है उनको देख कर स्वधर्माचरण न करना चाहिये या लौकिक कार्य न करना चाहिये इसका निर्णय वे लोग नहीं कर सकते। अर्थात् सद्धर्मसे अच्छा ही होगा ऐसा निश्चय उन लोगोंमेंसे चले जानेके कारण धर्म विषयक श्रद्धादिके अभावमें धर्माचरण करनेवालोंको वे सहायक भी नहीं होते हैं। अतः श्रीकृष्णके आश्रयके विना पवित्र देशोंपर अपने उद्धारका आधार रखना निरर्थक है। श्रीकृष्णका आश्रय करनेवालेको देश भी अनुकूल हो जाते हैं। अत एव श्रीमद्भागवतमें देवोनें "कृष्णसेवा करनेकेलिये भारतवर्षमें मुकुन्दसेवोपयोगी देह प्रदान कीजिये, हम भी भूमिपर जन्म लेना चाहते हैं" ऐसा कहा। इस प्रकार पुण्यभूमिमें स्थिति करनेसे भी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती है, अतः

श्रीकृष्णका आश्रय ही करना उचित है, अतः मेरा आश्रय श्रीकृष्ण ही हो, ऐसी प्रार्थना श्रीमहाप्रभुजी करते हैं ॥ २ ॥

गङ्गादि तीर्थ भी सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले माने गये हैं, तो फिर आश्रयकी प्रार्थना किसलिये करते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें पूर्वोक्त देशादि छः प्रकारके साधनोंमें से तृतीय साधन द्रव्य भी फलसिद्धि नहीं करता है यह दर्शानेकेलिये तीर्थ भी साधक नहीं हैं ऐसा निरूपण करते हैं:—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

अन्वयः—इह गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव मम गतिरस्तु ।

गङ्गा आदि मुख्य तीर्थ दुर्जनोंसे ही आवृत हैं। गङ्गादि तीर्थोंमें ब्राह्मणादि भी रहते हैं, तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि सब तीर्थ दुष्टोंसे ही सेवित हैं ? ब्राह्मणादिकी स्थिति वहां नित्य रहती है इस कारण अतिपरिचयसे उनकी तीर्थोंकेप्रति आदर-बुद्धि कम हो जाती है, तथा वे दान दक्षिणादिसे निर्वाह करते हैं, इसलिये उनके पीछे भी उपाधियाँ लगी ही रहती हैं, अतएव उन में भी दुष्टता रहती ही है। सर्वविध दोषोंको दूर करनेवाले तीर्थ वहां विद्यमान हैं तो फिर उनमें दोष किस प्रकार रह सकता है, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती। उसका कारण यह है कि उनमें स्थित भगवान्से बहिर्मुखता तथा नास्तिकता आदि दोषोंका निवारण तीर्थ भी कर नहीं सकते। यह बात निम्नलिखित प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। “सौ बार अच्छी तरह मिट्टी लगाकर जन्मसे आजतक प्रतिदिन स्नान करनेवाला भावदुष्ट मनुष्य, गङ्गाके सम्पूर्ण जलसे भी शुद्ध नहीं हो सकता। ऐसा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं; मत्स्यादि जलमें रहनेवाले प्राणी रातदिन (गङ्गाआदिके) जलमें ही रहते हैं, परन्तु वे कभी स्नानके फलको प्राप्त नहीं कर सकते।” “मनुष्य जो कर्म श्रद्धा और विधिपूर्वक शुद्ध भावसे करते हैं, वही उसके अक्षय सुखकेलिये कल्पित होते हैं; अर्थात् उन्हींसे उनको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।” “विधि और श्रद्धासे रहित और भावदुष्ट किये हुए कर्मका फल मनुष्यको प्राप्त नहीं होता है, इसका कारण यह है कि वैसे कर्मका फल असुर हरण करलेते हैं। अतः विधिहीन और भावदुष्ट कर्म करनेवाला अत्यन्त मूढ तथा अकृतार्थ समझना चाहिये। श्रद्धारहित, दुष्ट अन्तःकरणवाला, नास्तिक, संशयग्रस्त और कारणवादी ये पांचों तीर्थके फलको प्राप्त नहीं करते हैं।” “जिस तरह गङ्गा आदि नदियां मदिरासे पूर्ण घटको पवित्र नहीं बनादेती है, उसी तरह नारायणसे विमुख मनुष्यको कोई भी प्रायश्चित पवित्र नहीं कर सकता।” ये सब आदित्य पुराण, योगियाज्ञवल्क्य, वायुपुराण तथा श्रीमद्भागवतके वचनों से सिद्ध होता है, कि तीर्थों में भगवान्से बहिर्मुख तथा नास्तिक मनुष्यको पवित्र बनानेकी सामर्थ्य नहीं होती है।

यहां इस तरह शङ्का होती है कि—वस्तुमें शक्ति होनेपर कार्य अवश्य होता है, वह हुए विना रहता ही नहीं, जैसे दाहकत्व शक्ति अग्नि में विद्यमान है, और, वह जलाती नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार तीर्थमें पवित्र करने की शक्तिके विद्यमान रहते वे पवित्र नहीं कर सकते, ऐसा कदापि न होगा।

इसका समाधान करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं, कि तीर्थों में पवित्र करनेवाला जो आधिदैविक स्वरूप है वह तिरोहित हो गया है, अतः तीर्थ उनको पवित्र नहीं कर सकते। तीर्थोंका आधिदैविक स्वरूप सत्पुरुषोंके सम्पर्कसे ही प्रादुर्भूत होता है, अत एव निबन्ध में आपने कहा है कि "काशी आदि तीर्थोंमें किसी समय किसी एकाध की मुक्ति होती है तब समझना चाहिये कि जीवके ऊपर प्रभुने अनुग्रह किया है।" प्रभुके अनुग्रहके विना किसी की भी मुक्ति नहीं होती है। प्रभु तीर्थोंका माहात्म्य बढ़ानेके लिये तीर्थोंके द्वारा भी किसीको मोक्ष प्रदान करदेते हैं। और श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि भगवद्भक्त तीर्थोंमें स्नान करते समय अपने हृदयकमल में विराजमान प्रभुके साथ तीर्थोंका सङ्ग करा कर तीर्थों को पवित्र बनाते हैं। अर्थात् तिरोहित आधिदैविक स्वरूप उनमें प्रकट कर देते हैं, इसको तीर्थीकरण कहते हैं। अन्य प्रकारसे तीर्थों को और क्या तीर्थ बनाना है? जल में कुछ दोष तो दिखाई देते ही नहीं। इस प्रकार द्रव्यस्वरूप तीर्थों में भी स्वतन्त्ररूपसे पुरुषार्थ सिद्ध करने की सामर्थ्य विद्यमान नहीं है अतः श्रीकृष्णका आश्रय ही रक्षणीय है ॥ ३ ॥

यदि कर्म करनेवाला अच्छा हो तो सब फल प्राप्त हो सकता है। तो फिर अन्य का निषेध कर आश्रयकी ही प्रार्थना क्यों? इस शङ्काका समाधान करके कर्मकरने वालोंका स्वरूप भी फल सिद्ध नहीं कर सकता, यही बात चतुर्थ श्लोक में निरूपण करते हैं:—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अन्वयः—सत्सु अहङ्कारविमूढेषु पापानुवर्तिषु लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्णः एव मम गतिः अस्तु।

अहङ्कारके वशीभूत पण्डितगण—हम ही शास्त्रज्ञ है अन्य कोई नहीं—इत्यादि प्रकार के मिथ्याभिमानसे विमूढ हो गये हैं। जिस तरह उनका ज्ञान अभिमानके हो जाने से दूषित हो गया है, वैसे ही उनकी कृति भी दूषित हो गई है। इसका कारण यह है कि वे लोग द्रव्यादि का लाभ और पूजा के लिये ही यत्न करने वाले होते हैं। विष्णुयागादिक पारमार्थिक कर्म भी वे लोग ऐसा समझकर ही करते हैं कि—इससे हमको द्रव्य प्राप्त होगा और लोकमें प्रतिष्ठा बढेगी। साथ ही दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग करनेसे सङ्गजन्य दुष्टता और पापका अनुसरण करनेसे अन्नजन्य दुष्टता इसप्रकार दोनों प्रकारकी दुष्टता उनमें होनेसे वे पण्डित भी स्वतन्त्रतासे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं कर सकते। परन्तु भगवदाश्रय करके भगवत्कृपासे वेदार्थ और स्वदोष की स्फूर्ति होने

पर फल सिद्धि कर सकते हैं, क्यों की वेदका तात्पर्य भगवान् या भगवद्भक्त जानते हैं, ऐसा होनेसे भगवदीय होनेसे ही वेदका तात्पर्य समज सकते हैं। इस तरह भगवदाश्रयके विना पण्डित भी कुछ सिद्ध नहीं कर सकते। अतः श्रीकृष्ण ही मेरा आश्रय होवे ॥ ४ ॥

सुनते हैं कि शास्त्रों में मन्त्रों से फल सिद्धि बताई है, तो फिर आश्रय ही करनेकी क्या आवश्यकता है? मन्त्रों की शक्ति भी नष्ट होगई है, अतः मन्त्र भी कुछ नहीं कर सकते यह दर्शाते हैं:—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अन्वयः—मन्त्रेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अव्रतयोगिषु तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ।

वेदोक्त तथा नारदपंचरात्रादि आगमोक्त मन्त्र; तात्पर्य, फल तथा देवताके स्वरूपज्ञानके अभावसे नष्ट हो गये हैं। वैदिकमन्त्र नियमपूर्वक पढे नहीं जाते, अतः उनका सामर्थ्य नष्ट हो गया है। वेदाध्ययनके नियम गुरुकुलमें निवासकरना, ब्रह्मचर्यपालनकरना, शूद्रोंके सामने न पढना, अनध्यायके दिनोंमें न पढना इत्यादि है। तान्त्रिक मन्त्रोका तात्पर्यही समझमें नहीं आता है, अतः उसका अर्थ और फल समर्पक देवता उन मन्त्रोंसे तिरोहित हो गई हैं, इस तरह तांत्रिक मन्त्रोंका भी सामर्थ्य नष्ट हो गया है। तथापि भगवान्‌का ही आश्रय रखनेवालेको मन्त्रोंसे भी फल प्राप्त होता है। इसके विषयमें "जिसके स्मरणसे और नामका उच्चारण करनेसे कर्म की त्रुटि पूरीकी जाती है, उस अच्युत भगवान् को मैं प्रणाम करता हूं।" इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं। इस तरह मंत्र भी नष्ट सामर्थ्यवाले होनेसे मेरा आश्रय श्रीकृष्ण ही है ॥ ५ ॥

मीमांसा आदिसे मंत्रोके अर्थका निर्णय करके कर्मसे ही फल प्राप्त हो सकता है तो फिर आश्रय की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार शङ्का करके कर्म भी फल साधक नहीं है यह जतानेकेलिये नीचेके श्लोकसे आश्रयकी प्रार्थना करते हैः—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

अन्वयः—सर्वकर्मव्रतादिषु नानावादविनष्टेषु पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव मम गतिरस्तु ।

सोमयाग आदि सब कर्म और एकादशी आदि सब व्रत विविध वादोंसे नष्ट हो चुके हैं। वे वाद इस प्रकार है—

(१) सारा प्रपञ्चमिथ्या है, अर्थात् वेदभी प्रपञ्चमध्यपाती होनेके कारण मिथ्या हैं, अतः जैसे प्रपञ्च व्यावहारीक होनेके कारण व्यवहारमें ही प्रमाण है वैसेही वेद और वेद-

विहित कर्मको भी व्यवहारमें ही प्रमाण मानना चाहिये । वास्तविकरीतिसे कुछभी करनेका या प्राप्तकरनेका नहीं है ।

(२) पूर्वमीमांसाकारका मत है कि "परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोग्रे" इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मा आदिका उत्कर्षभी यज्ञोंके द्वारा ही सुना जाता है । और उत्तरोत्तर कर्ममें प्रवृत्त होनेमें पूर्ववासना ही कारण होनेसे कर्म ही करना चाहिये । कर्मसे ही फलसिद्धि होगी । कर्मके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपास्य, फलदाता, किंवा प्रवर्तक नहीं है । इसी तरह मन्त्रकी देवता भी मन्त्रसे पृथक् चेतनरूपा कोई नहीं है, किन्तु मन्त्ररूपा ही है । अर्थात् किसी देवताकी कृपा सम्पादन करके किसी प्रकारके फल की प्राप्ति करनेके लिये भी कर्मके अतिरिक्त कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है । किन्तु उपर्युक्त प्रकारसे उपास्य, फलदाता या प्रवर्तक सब कुछ कर्म ही है ।

(३) नैयायिकों का मत है कि शास्त्रसे प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसका श्रवण मनन और निदिध्यासन करनेसे आत्माका साक्षात्कार होता है, तब दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होकर जाती है, यही फल है । ईश्वरोपासना करनेकी अथवा ईश्वरको ही फलरूप माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

(४) निरीश्वर वादी साङ्ख्योंका मत है कि प्रकृति और उसके विकारों की उपाधिका विलय करके पुरुष जब अपनी स्थिति करता है वही फल है, भगवान् फल नहीं है ।

इस तरह भिन्न भिन्न प्रकारके वाद प्रचलित है । इनसे विशेषकर कर्मोंका नाश किया गया है । अतः उलटा ही अर्थ ग्रहण कर लेनेसे कर्म भी फलोत्पादक नहीं रहे । सच्चा वैदिक सिद्धान्त देखनेसे ये सब वाद एक प्रकारके प्रलाप की तरह प्रतीत होते हैं । क्योंकि "यह सब पुरुष ही है" "यह सब ब्रह्मात्मक है" वह भगवान् सबको वशीभूत रखता है सबके ऊपर शासन करता है, इत्यादि वाक्य यह सब प्रपञ्च ब्रह्मरूप है, और अत एव सत्य हैं, इसलिये कर्म भी सफल है यह बताते हैं । अत एव शाङ्कर सिद्धान्त उपपन्न नहीं होता है ।

"भगवान् उसी से अच्छे कर्म कराता है जिसको ऊंची गति से लेजाना है । और उसीसे निकृष्ट कर्म कराता है जिसको अधोगति से ले जाना है ।" "हे अर्जुन मैं ही समग्र जगत् की उत्पत्तिका कारण हूँ" "भला ऐसा कौन देह धारी है जो मुकुन्द भगवान् का भजन न करेगा ।" "देव हो, असुर हो, मनुष्य हो यक्ष या गन्धर्व हो, मुकुन्द भगवान् के चरणों की सेवा करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं । "भगवान् ही सबके फल दाता हैं, क्योंकि जो सबका नियामक हो वही फलदाता सकता हैं । यज्ञ तृप्त हुए देवता यज्ञ करनेवाले को तृप्त करते हैं । "निश्चय ही देवोंनें यज्ञ किया था ।" इत्यादि प्रमाणों से जैमिनी का मत भी श्रुति स्मृति और व्यास सूत्रों से विरुद्धसिद्ध

होता हैं। क्योंकि इन वाक्यों में जीव को प्रवृत्त कराने वाला, सारे जगत् की उत्पत्ति का कारण, जीवमात्रके लिये सेव्य, सर्वविध कर्मोंका फलदाता एकमात्र भगवान् ही हैं ऐसा कहा है। सब जैमिनिके मतके अनुसार उपपन्न नहीं हो सकता इसी तरह यज्ञोंसे देवों की तृप्ति तथा देवोने यज्ञ किया ऐसा प्रतिपादन भी किया गया हैं। अतः यह भी स्वीकार करना चाहिये किं मन्त्रकी देवता मन्त्रसे पृथक् हैं और वह चेतन रूपा है।

"हे अर्जुन! उसके पश्चात् मुझे तत्त्वतः जानकर मेरेमें प्रवेश करते हैं।" "हे अर्जुन! तू मुझे ही प्राप्त करेगा।" "ब्रह्मका आकार आनन्द है" इन वाक्योंमें भगवत्सायुज्यको मोक्ष कहा है। तथा आनन्दाकार होनेके कारण भगवान्‌को ही फल कहा है। जिसमें आनन्दका अनुभव हो वही फल है अतः न्याय और साङ्ख्य मत भी श्रौतसिद्धान्तके अनुकूल नहीं है ऐसा सिद्ध होता है।

इस तरह भिन्न भिन्न वादोंके द्वारा जो कर्म का विनाश हुआ है उसका दिग्दर्शन कराके अब उन वादोंके द्वारा जो व्रतादिका विनाश किया गया है वह भी बताते हैं स्वमत के आग्रह से वे लोग एकादश्यादि व्रत भी दशमीके वेध से युक्त ही करते हैं, जिसका कि शास्त्रों में पूर्ण निषेध है। इस प्रकार व्रतोका भी विनाश हो चुका है। यद्यपि व्रत भी एक प्रकारका कर्म ही है तथापि वह ज्ञानादिका अङ्ग होने से यहां उसका कर्मसे पृथक् उपादान किया गया है।

अब यहां शङ्का उपस्थित होती है कि एकादश्यादि व्रत करनेका वे लोग भी उपदेश करते हैं और स्वयं भी करते हैं, यदि वे लोग व्रतों को मिथ्या, फलरहित मानते होते तो वे क्यों आचरण करते हैं और उपदेश करते है? साथ ही उन मतोंके प्रवर्तक शङ्कर जैमिनी गौतम आदि हैं। यह शङ्का भी अयुक्त है क्योंकि उनका प्रयास पाखण्डका प्रचारकरनेके लिये ही है। यह बात वाराह पुराण के "हे [1]महाबाहु रुद्र! तुम मोह शास्त्रों की रचना कराओ और सत्यको मिथ्या बताओ, अपने स्वरूप का प्रकाश करो और मुझे गुप्त रहनेदो" इह सार्धश्लोकसे तथा पद्मपुराणके "त्वामाराध्य तथा शम्भो गृहीष्यामि वरं सदा। द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु॥ स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्विमुखान् कुरु। मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥" हे शम्भो! द्वापरादियुगमें मैं कलात्मक अवतार लेकर मनुष्यादिकमें तुह्मारा अराधन करके वर ग्रहण करूंगा और आपको नवीन शास्त्रोंकी कल्पना करके लोगोंको मेरेसे विमुख करना चाहिये, और मेरे स्वरूपको छिपा-

---

[1] त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय।
अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज॥
प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च माङ्कुरु॥

कर अपना स्वरूप ही प्रगट करना चाहिये, ताकि यह सृष्टि उत्तरोत्तर चलती रहे। इस भगवदाज्ञाके अनुसार शाङ्करादिकी प्रवृत्ति है, वे लोग भी जो कर्म करते हैं वह भी अपनी महत्ता दर्शानेकेलिये ही करते हैं,साथ ही उनका यह भी उद्देश रहता है कि उनके अनुयायी भी वैसा ही कर्म करें। यदि ये लोग स्वयं वैसा न करके अनुयायियोंको ही उपदेश करें तो उनका कोई मानेगा भी नहीं। गीतामें भी कहाहै कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।" अर्थात् जिस प्रकारका आचरण महत्पुरुषोंका रहता है, उसी प्रकारका आचरण अन्यलोग भी करते हैं। इसी न्यायके अनुसार यदि वे स्वयं न करैं तो उनके उपदेशके अनुसार अन्यलोग कैसे चल सकते हैं? शङ्करादि मतप्रवर्तकोंके द्वारा आधुनिक लोगोंमें मोह उत्पन्न हो गया है।

ये मतप्रवर्तक प्रायः सब देवता हैं—तो फिर आप देवताओंसे प्रवर्तित मतोंको पाखण्डमत क्यों कहते हैं? ऐसी शङ्का भी उपस्थित नहीं हो सकती। क्योंकि मतप्रवर्तक देवता है इतना एकमात्र कारण रहने से ही वह मत सन्मत है ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु जो मत वेदसे विरुद्ध न हो और वेदमूलक हो उसीको सन्मत कह सकते हैं। अन्यथा बृहस्पति प्रवर्तित चार्वाक (नास्तिक) मतको भी सन्मत कहनेकी आपत्ति उपस्थित होगी। इस तरह प्रसक्ताप्रसक्तसेही अटकना ठीक है। ये विविधवाद भी कर्मफलसाधक नहीं हैं; अतः मेरी गति-आश्रय-श्रीकृष्ण ही है॥ ६॥

धर्मसे पाप दूर होता है" "धर्ममें सब प्रतिष्ठित है" यह श्रुति पहिले जीवको दोष निवृत्तिकेलिये धर्माचरण करनेकी अवश्यकता बताती है। यह ठीक भी है, कि धर्माचरणके द्वारा चित्तशुद्धि होनेसे भगवन्माहात्म्य तथा भगवत्स्वरूपको समझकर ही भागवदाश्रयादि करने चाहिये, नकि पूर्वकी दोषयुक्त अवस्थामें। कहां योगियों को भी अगम्य भगवत्स्वरूप और कहां यह दोषयुक्त जीव, वह उसको कैसे प्राप्त कर सकता है? इस तरह शङ्का करके "जिसको यह भगवान् वरण करते हैं उसीको वह लभ्य है।" "हे रहूगण! भगवान्के स्वरूपकाज्ञान, तपसे वा वैदिक कर्मोंसे, अन्नादिके दानसे परोपकारसे, वेदाध्ययनसे, जल, अग्नि और सूर्यादिकी उपासनासे प्राप्त नहीं होता है। परन्तु भगवद्भक्तोंके चरणकी रज शिरपर धारण करनेसे ही—अर्थात् भक्तोंकी सेवा करनेसे ही—प्राप्त होता है।" "हे अर्जुन! मेरी अनन्य भक्तिसे ही मेरे स्वरूपका सम्पूर्ण ज्ञान, जैसा कि तुझे हुआ है, मनुष्य को हो सकता है। हे परन्तप! भक्तिसे ही मैं तत्त्वतः ज्ञात हो सकता हूं और वे जीव (जिह्नोंने मेरा स्वरूप तत्त्वतः जानलिया है) मेरे भीतर प्रवेश कर सकते हैं।" इत्यादि वाक्य स्पष्टतया यह सिद्धान्त दर्शाते हैं कि भगवदीयके अनुग्रहसे सदोषजीवको भी भगवत्स्वरूप गम्य हो सकता है, इसलिये, और भगवान्का माहात्म्य भी शास्त्रोंमें वैसा ही—अधमोद्धारक आदि—प्रसिद्ध है इसलिये भी सदोषजीवोंकेलिये दोषनिवृत्तिके अर्थ प्रायश्चित्तादि नहीं, पर महापुरुष, श्रीमदाचार्यचरण एवं उनके वंशजके द्वारा शरण ग्रहण करना ही है। उसीसे सब कुछसिद्ध हो जायगा। अर्थात् भक्तोंके धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थरूप भगवान् ही होने के कारण भक्तोंको भगवान्के आश्रयके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहजाता है।

भगवान् भक्तोंके धर्मादिरूप किस प्रकार हैं यह निम्नलिखित पद्यसे ज्ञात होता है:—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अन्वयः—अजामिलादिदोषाणां नाशकः, अनुभवे स्थितः ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव मम गतिरस्तु ॥

अजामिल, गजेन्द्र, अहल्या आदिको अपने दोषके नाशकरने वाले भगवान् हैं ऐसा अनुभव हुआथा। अथवा अजामिलके अतिरिक्त अन्यमक्तोंके अनुभवमें आप दोषनाशकरूपसे आये थे। अजामिलका उद्धार परम्परा सम्बन्धसे अपने नामके द्वारा किया था। इसमें अपना सम्पूर्ण माहात्म्य भी दर्शाया है। इन तीन विशेषणोंसे धर्मका कार्य—पापको दूर करके इष्टकी प्राप्तिकराना वह भी भगवान् स्वयं करते हैं। इसलिये दोषके उपस्थित होनेपर भी भक्तोंको दोषनिराकरणार्थ शरणकी भावना ही करनी चाहिये प्रायश्चित्तादि करने की आवश्यकता नहीं है। अथवा परम्परा सम्बन्ध से भी आप दोष निवारक हैं। (साक्षात् सम्बन्ध होजाय तब क्या कहना है ?) अजामिल का उद्धार आपने अपने नामके साम्यसे किया। भक्तोंके अनुभवसे आप अनुभवमें आते हैं, इसी तरह लीलारूप निखिल माहात्म्य भी आप ही दर्शाते हैं; अतः श्रीकृष्ण ही मेरी गति—आश्रय—होवै ॥ ७ ॥

"सदा अध्ययनकरना चाहिये" जिस जिस यज्ञका अध्ययन करते हैं उन उन मन्त्रों का फल अध्येता को प्राप्त होता है," अग्नि, वायु और सूर्यका सायुज्य प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुतिसे कर्म मार्गमें स्थित रह कर भी ब्रह्मयज्ञ अध्ययनके द्वारा अग्नि आदिका सायुज्य प्राप्त कर सकता है, इसी तरह "जो लोग अव्यक्त, अवर्णनीय, सर्वव्यापी अक्षर की उपासना करते हैं वे मेरे अक्षर रूपको प्राप्त होते हैं" इत्यादि वाक्य ज्ञानसे भी अक्षर ब्रह्मकी प्राप्ति बताते हैं, तब फिर श्रीकृष्णका आश्रय करनेमें क्या विशेषता है ? और यदि विशेषता न हो तो उसकी प्रार्थना भी क्यों करें ? ऐसी शङ्का करके उन उन देवताओं और अक्षरके सायुज्यके बीचमें तथा अक्षर और श्रीकृष्णके सायुज्यके बीचमें क्या न्यूनाधिक्य रहा है यह समझानेकेलिये सब स्वरूपोंका निरूपण करके भगवान् भक्तोंके अर्थरूप किस प्रकार हैं वह बताते हैं :—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्।
[१]पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

---

[१] यहां पूर्णानन्दशब्दके तीन अर्थोंका स्वीकार किया है। (१) पूर्ण आनन्दसे जो होता है (२) पूर्ण आनन्द जिसमें है (३) जिससे पूर्ण आनन्द होता है। प्रथम अर्थकी यह स्वारस्य है कि मर्यादा पुष्टिभक्तिको पूर्णानन्दका दान करने में आप साधन सापेक्ष हैं, द्वितीय अर्थसे आप पूर्ण आनन्द स्वरूप है, गणितानन्द नहीं। तीसरेका अर्थ पुष्टि भक्तोंके पूर्णनन्दका दान करनेमें आप साधन निरपेक्ष हैं।

सकला देवाः प्राकृताः बृहत् गणितानन्दकम् , पूर्णानन्दः हरिः, तस्मात् कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ॥

सब देवोंकी उत्पत्ति सत्त्वाहङ्कारसे हुई है अतः वे सब देवगण अपनी उत्पादिका प्रकृति–त्रिगुणात्मिका माया–के अधीन है । अक्षरब्रह्म गणितानन्द है । अब "उस आनन्दका विचार यहां होता है" इस वाक्यसे प्रारम्भकरके "प्रजापति आदिके आनन्दसे शत गुणित अधिक आनन्द वह अक्षर ब्रह्मका आनन्द है" इस वाक्योक्त सम्पूर्ण प्रपाठकसे अक्षर ब्रह्मके आनन्दकी गणना की गई है । और यदि ब्रह्मादि देवोंका सायुज्य भी प्राप्त हो तो भी क्या हुआ ? वहांसे भी तो जीवको संसारमें आनेका सम्भव रहता ही है इसका कारण यह है कि भगवद्गीताके नवमाध्यायका सोलहवाँ श्लोक "हे कुन्तीपुत्र ! मुझे प्राप्त होनेवाला जीव ही फिरसे इस संसारमें आता नहीं है ।" इस वाक्यके अनुसार ब्रह्मा पर्यन्त सबदेवोंके साथ सायुज्य होने पर भी वह सायुज्य नहीं माना जाता, वह सायुज्य गुणातीतके साथ न होनेके कारण और संसारमें फिर उत्पन्न होना पडता है इसलिये तथा अल्पसुख वाला होनेसे 'पुण्यक्षीण होनेसे स्वर्गसे गिरता है' इस वाक्यके अनुसार जैसे स्वर्गमें जानेका नाम मोक्ष नहीं है वैसे ही वह सायुज्य सावधिक होनेसे मोक्षरूप नहीं हो सकता । अब रही ज्ञान मार्गीय अक्षर ब्रह्मके साथ सायुज्य की बात, सो तो यद्यपि अक्षर ब्रह्ममें लय होना निर्गुण मुक्ति हो सकती है, तथापि उसमें भी परिमित ही सुख होनेके कारण अत्यन्त क्षुधार्तको अतीत स्वल्पभोजन तृप्त नहीं कर सकता उसी तरह बहुत समयसे आनन्दकी गवेषणा करनेवाले जीवात्माको गणितानन्द प्राप्त होने पर भी क्या होगा ? उसको तो पूर्णानन्द प्राप्त होने पर ही तृप्ति होगी । यहां एक बात विचार करने योग्य है , वह यह कि गणितानन्दका व्याकरणकी रीतिसे क्यां अर्थ है–"गणितानन्द" में "क" प्रत्यय अज्ञातार्थ और वह स्वार्थमें हुआ है । उसका तात्पर्य यह है कि अक्षर ब्रह्मका आनन्द पुरुषोत्तमके आनन्दकी अपेक्षा अस्पष्ट एवं न्यून है । इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण ही निर्गुण मुक्तिके दाता तथा पूर्णानन्द होनेके कारण उनका ही आश्रय रक्षणीय है ।

"वही यह यदुकुलश्रेष्ठ और कुरुकुलश्रेष्ठ नारायण और नर भगवान् हरिके अंशरूपसे पृथ्वीका भार उतारनेकेलिये अवतीर्ण हुए हैं" "हरिके अंशरूप नर और नारायणसे पृथ्वी अतीव शोभाको प्राप्त होती है ।" इत्यादि वाक्योंसे श्रीकृष्णको तो अंशरूप कहते हैं, और आप यहां बताते हैं कि वे पूर्ण हैं यह कैसे सम्भव हो सकता है ? साथ ही 'भगवान्ने जन्मलिया' इत्यादि वाक्यसे भगवान्का जन्म भी सुनाजाता है, अर्थात् देवादिकके देह भी पांचभौतिक तथा उत्पत्तिशाली होनेसे भगवान्के श्रीअङ्गको भी पाञ्चभौतिक एवं जन्य

---

१ तैत्तिरीयोपनिषद्की आनन्दवल्लीमें आनन्दकी गणना इस प्रकारकी गई है ।

कहना चाहिये। इसी तरह यह आनन्द रूपत्वका प्रतिपादन करते हैं यहभी किस तरह माना-जाय ? और सुनिये, आनन्द अन्तःकरणका धर्म होनेको कारण भगवान्को आनन्दरूप एवं आनन्द जनक किस तरह कह सकते है ? इससे तात्पर्य यह निकलता है कि आपके कहनेके अनुरूप भगवान्का पूर्णत्व, आनन्दाकारत्व, आनन्दवत्त्व अथवा आनन्दजनकत्व ऊपर बताये हुये प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हो सकता ?

अब इस लम्बे चौडे पूर्वपक्षोंका समाधान भी सुन लीजिये जो लोग उपर्युक्त प्रमाण उद्धृत करते हैं उनको उन प्रमाणोंका अर्थ ही ज्ञात नहीं है। भक्तोंकी आर्तिका नाश कर उनको आनन्दका दान करना यही भगवान्के अवतारका मुख्य प्रयोजन है। यही प्रयोजन यहां सिद्ध करना है इसीलिये भगवान् मूल स्वरूपसे अवतीर्ण हुए। पृथ्वीका भार भी दूर करना था इसलिये अपने अंशभूत नर और नारायणभी यदुकुलोत्पन्न नारायण और कुरुकुलोत्पन्न अर्जुनमें आविर्भूत है। अर्थात् यदुकुलश्रेष्ठ एवं कुरुकुलश्रेष्ठमें उन अंशोंने प्रवेश किया है, अत एव वे दोनों यदूद्वह और कुरूद्वह हुए हैं। जो मूलस्वरूप है उसमें अंशत्वकी सम्भावना न होनेके कारण यदूद्वहत्व और कुरूद्वहत्व न था। तात्पर्य यह कि तत्तत्कार्योंको सम्पादन करनेके हेतु भगवान्को व्यूहों में तत्तदंशों की अवश्यकता रहती है, अतः नर और नारायण भी सङ्कर्षणांश होनेके कारण भूभार हरणार्थ अपेक्षितथे। भगवान् भक्तोंकी आर्तिनिवृति करते हुए आनन्द-दानार्थ पूर्णरूपसे तथा भूभारहरणार्थ सङ्कर्षणके अंशरूप नरनारायण को भी अपने में प्रविष्ट-कराकर प्रकट हुए। इससे सिद्ध होता हैं कि उपर्युक्त वाक्यों में उभय अंशो को ही अवतार माना जाय। अन्यथा पूर्णका अवतार न माननेसे "कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं" "वसुदेव के गृहमें परपुरुष भगवान् प्रकट होंगे" इत्यादि वाक्यस्तोम विरुद्ध हो जायगा। अतएव तत्त्वार्थदीपके भगवतार्थ प्रकरणमें आप आज्ञा करते हैं कि "पुष्टिकार्य करनेकेलिये नारायणसे अतिरिक्त स्वरूपसे भगवान् आविर्भूत हुए हैं" नर तो स्वयं आवेशधारक है, भूभार हरण के अतिरिक्त कार्य, पूर्ण कृष्णसे ही किया जाता है, अन्यसे नहीं। "परित्राणाय साधूनां" यह वाक्य मर्यादा भक्तोंका रक्षण करनेकेलिये अंशावतारका द्योतक है, और भक्तोंकी आर्ति निवृत्तिपूर्वक आनन्ददानकरण यह पुष्टि है। इस उन प्रकारके मार्गोंका स्थापन करनेकेलिये अवतीर्ण भगवान् भी यदि अंशरूपसे ही अवतीर्ण हों और पूर्णरूपसे न हों तो पुष्टिकार्य सिद्ध न होता। अतएव अपने दोनों अंशोसे पृथ्वीको सुशोभित की।" इस प्रकार विचार करनेसे मानना पेडेगा कि भगवान् का अवतार श्रीकृष्णरूपसे पूर्णावतार ही है। परन्तु तत्तत्कार्योंको सम्पादन करनेकेलिये उनके भीतर उभय अंश प्रविष्ट है। तथा देहके साथ रहनेवाला पांचभौतिकत्व वा जन्यत्व आदि नियम भी प्राकृत देहकेलिये ही समझना चाहिये। अप्राकृतके विषय में तो वेदके अनुसार ही अर्थसिद्ध करना पडेगा। अर्थात् भगवान् श्री कृष्णका श्रीअङ्ग अप्राकृत होनेसे "आनन्दमात्र करपादमुखोदरादिः" इत्यादि श्रुत्युक्त आनन्द मात्र ही

जानना उचित होगा। अन्यथा प्राकृत और अप्राकृत पदार्थोंका नियम समान होजानेसे अस्मदादिके ज्ञान इच्छा आदिके समान ही भगवान्के ज्ञान इच्छा आदिको भी—अनित्यत्व प्राप्त होगा।

"भगवान् का कर्तृत्व तो ज्ञान इच्छा आदिसे भी उपपन्न हो सकता है, उसी तरह देहका आनन्दमयत्व तथा नित्यत्व प्रत्यक्षसे भी बाधित हैं, तो फिर आनन्दमय तथा नित्य देहका स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो वह भी अनुपपन्न होगी। क्योंकि "जहां जहां कर्तृत्व रहता है वहां वहां देहवत्ता भी रहती है। जैसे घटके प्रति कुम्हारका कर्तृत्व कहने से वह कुम्भकारभी देहधारी है ऐसा ज्ञान अवश्य ही होता है। इसी तरह "जहां जहां देहवत्ता नहीं है वहां वहां कर्तृत्व भी नहीं है" ऐसा भी नियम ही है। जैसे मोक्षको प्राप्त किये हुए जीवात्मामें देहवत्ता न होनेसे उसमें कर्तृत्व भी नहीं है। इस अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तिके बलसे कर्तृत्वका निर्वाह करनेके लिये ही जैसे नित्यज्ञानका स्वीकार करते हैं वैसे ही आनन्दमय एवं नित्यदेहका भी स्वीकार करना पडेगा। साथ ही प्रभुका जन्म भी शास्त्रोंमें सुनाजाता है। अतः प्रभुके देहका जन्म न माननेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि नित्य और सर्वत्र व्याप्त ऐसे अपरिच्छिन्नवपुका परिच्छिन्नरूपसे प्रगट करना यही जन्म कहा जाता है। "आनन्दसे ही यह सब भूतमात्र उत्पन्न होते हैं" "ब्रह्म नित्यस्वरूप, विज्ञानस्वरूप तथा आनन्दरूप है" "वह सैंधवके टुकडेके समान भीतर बहार समग्र ही रसघन हैं, ऐसा निश्चय यह आत्मा भीतर और बहार समग्र ही प्रज्ञानघन है" "ब्रह्म का आकार आनन्द है" "वह आनन्दमय है, क्योंकि श्रुतिमें आनन्दमयस्वरूपकी बार बार उक्ति है" "श्रुति ब्रह्मको आनन्दमात्र कहती है" "आप केवल आनन्दानुभव स्वरूप हैं" "भगवान् के श्रीहस्त, चरणारविन्द, श्रीमुख, आदि अवयव आनन्द मात्र हैं" "गुण और लीलाके अनुसार आपके पुत्रके अनेक नाम तथा रूप हैं" "तीनों वेद, सब उपनिषदें, साङ्ख्य, योग तथा इन्द्रादि भक्त 'परब्रह्म' 'भगवान्' कहकर जिसके माहात्म्यका गान कर रहे हैं, उसको श्री यशोदाजीने अपना आत्मज (पुत्र) माना है" "जिसका भीतर या बहार, पूर्व या पर नहीं है; और जो स्वयं जगत्का पूर्व तथा पर एवं भीतर और बाहर है, वह जगद्रूप है" इत्यादि वेद, व्याससूत्र तथा पुराणोंमें अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। इसी तरह प्रमाण प्रकरणीय बाललीलाओंसे ज्ञात होता है, कि भगवान् श्रीकृष्ण अंशावतार नहीं पर पूर्णावतार ही है। वैसे ही अस्मदादिक की तरह 'आनन्द' यह कुछ केवल आत्मा का गुण होकर ही भगवान् में स्थित नहीं है, किन्तु प्रभुका श्रीअङ्ग, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण यह सब आनन्दरूप है। साथ ही ज्ञानस्वरूप है। और "ब्रह्म त्रिकालाबाधित तथा विज्ञान स्वरूप है" "ब्रह्माके आयुष्य की समाप्ति होनेपर महाप्रलय उपस्थित होता है जब चौदहलोकके महाभूतों में लीन हो जानेपर, महाभूत अपने कारणभूत अहङ्कार में लीन हो जाता है, और अहङ्कार अपने कारणभूत महत्तत्त्वमें लीन होता है, महत्तत्त्व अपने कारण भूत प्रकृ-

तिमें लीन होता है, अन्तमें प्रभु ही एकाकी शेष संज्ञा से स्थित होते हैं, इत्यादि वाक्यों से आपका "नित्यत्व" "यह प्रभु ही सबको आनन्द प्राप्त कराता है," इसश्रुति से "आनन्द जनकरता है" "इसतरह श्रीकृष्णचन्द्रने गोपालों के साथ आनन्द से आप्लावित होकर वृंदावनके समीप श्रीगोवर्धन एवं श्री यमुनाजी के तट पर पशुओंको चराते हुए रमण किया," "हे राजन् ! श्री वृंदावन, श्रीगिरिराज और यमुनाजी के तटको देखकर श्रीकृष्ण और श्रीदाऊजी को अतीव आनन्द हुआ।" हे गोपीजन ! पुष्पों की माला से विरचित कर्णभूषण से जिसके श्रीमुख की शोभा अपूर्व हो रही है ऐसा श्रीकृष्ण आनन्द में आकर जगत्को आनन्द मग्न बनाते हुए बलदाऊके साथ पर्वतके शिखरोंपर ठाढे रहकर बन्सी बजाते हैं तब नाद श्रवण करने वाले सारे संसारको तदाकार बनादेते हैं।" "हे सखि ! यदुपति श्रीकृष्ण व्रजकी गायोंके दुरन्त तापको दूर करते हुए, सायंकाल होनेके कारण प्रसन्न वदनसे गजराज की चाल चलते हुए, दिवसके अन्तमें जगत्के ताप कोशांत करनेवाले चन्द्रके समान अपने पास पधारते हैं" इत्यादि वाक्योंसे आनन्दवत्व भी उपपन्न होता है, तथापि आनन्दत्वका और देहत्वका विरोध तो वैसाही रहा, अपने अपने अधिकरण—आनन्द या देह—इस दोनोंमेंसे किसी भी एकमें प्रमाणोंसे अगर आनन्दत्व या देहत्व की—सिद्धि हो सकती हो तो विरोध कहां रहा ? तथापि आनन्दको धर्मी रूप मानकर उसका धर्मत्व किस प्रकार रह सकेगा ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण कि वह जैसे सैन्धवके तुकडेके समान भीतर और वहार समग्र रसघन है वैसे ही अरे यह आत्मा समग्र प्रज्ञानघन है। जो सर्वज्ञ है," इन श्रुतियोंमें भगवान्को ज्ञानरूप और ज्ञानके आधाररूप भी कहे हैं। वैसे ही आनन्द को ही धर्म और धर्मीस्वरूप मानने में किसी प्रकारका विरोध नहीं है। यह सब विस्तार पूर्वक हमारे श्रीप्रभुचरणोंने विद्वन्मण्डनमें प्रतिपादन किया है, अतः यहां विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है॥ ८ ॥

विवेक और धैर्य की रक्षा करते रहने पर भी भगवान् भक्तके वशीभूत होते हैं, तो फिर दीनता पूर्वक आश्रय की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार शङ्का करके भगवान् सर्व मनोरथ पूरक हैं, अतः सर्वविध फलकेलिये कामना की पूर्तिरूप प्रभुके आश्रय की प्रार्थना है—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अन्वयः—विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य, विशेषतः पापासक्तस्य, दीनस्य मम गतिः कृष्ण एव अस्तु।

पहिले प्रभुके स्वरूपका विचारकर आश्रयका उपदेश किया, अब जीवके स्वरूपका विचार कर आश्रय का उपदेश करते हैं। "भगवान् अपनी इच्छा से सब कार्य करते हैं, अतः प्रार्थना न करनी चाहिये" ऐसा निश्चय होना "विवेक" है, सेवामें प्रतिबन्ध करनेवाले

दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय न करके आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके दुःखोंको सहन करना "धैर्य है" है और फलरूपा एवं साधनरूपा भक्ति 'आदि' शब्दसे पुण्य इन सबसे रहित, किंबहुना इनके साधनोंसे भी रहित—अथवा यदि साधन होंगे तो भी अल्प प्रमाणमें, फल उत्पन्न कर सकें वैसे नहीं, और मैं दीन हूं अर्थात् किसी प्रकारके साधनोंके सिद्ध करने में भी असमर्थ हूं । साथ ही पाप में आसक्तहूं—भूलसे नहीं, पर जानकर पाप करने वाला होनेके कारण फल मिलता हो वह भी न मिले—ऐसी परिस्थिति में जीवका रक्षक कौन हो सकता है ? श्रीकृष्ण ही है । क्योंकि अन्य मार्गोंमें यदि थोडा भी उलटा सीधा कर्म होजानेसे कर्मका फल नष्ट होजाता है और देवता भी नाराज होती है, तब साधकका अनिष्ट होता है, अथवा अल्पफल प्राप्त होता है, परन्तु यहां तो श्रीकृष्ण दयालु हैं, अतःवे मेरे समान अधमको भी सम्पूर्णफलदान करते हैं, अथवा विवेकादि सिखाकर योग्य बना कर फलदान करते हैं, अतःमुझे तो श्रीकृष्णका ही आश्रय करना चाहिये ।

यहां "श्रीकृष्ण मेरा आश्रय हो" ऐसा कहनेवाले श्रीमदाचार्यचरण हैं और वे अपने को विवेकादिसे रहित आदि विशेषण लगाते हैं, यह अयुक्त है, अत; उन विशेषणों की क्या संगति है, यह विचारना चाहिये । सुनिये, इस ग्रन्थको आचार्यचरणोंने जीवोंकेलिये रचा है, अतः जैसे वेदमें यजमान की ओरसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि हाथ जोडकर मैं शरण आया हूं इत्यादि उसी तरह आचार्य चरण भी यहां जीवोंकेलिये जीवोंकी ओरसे इस प्रकार कहते हैं । अतः उपर्युक्त विशेषणों की सङ्गति जीवके प्रति ही होनी चाहिये ॥ ९ ॥

सबप्रकारसे निःसाधन जीवको शरण जानेके पश्चात् फलसिद्धि किस प्रकार होगी ? क्योंकि भगवान् तो जीवको उसकी कृतिके अनुसार फलप्रदान करते हैं । साथ ही यह भी सम्भव है कि जो लोग एकमात्र भगवान् ही का आश्रय करते हैं, उनसे प्रमादवश अन्यदेवोंका अपमान भी हो सकता है, और वैसा होनेसे अपमानित देवता फल सिद्धिमें बाधा भी उपस्थित कर सकते हैं । क्योंकि श्रेयके मार्गमें अनेक विघ्नोंका होना प्राकृतिक नियम ही है । इस प्रकार शङ्का कर मोक्षके मार्गमें भगवान्के निजस्वरूपका लाभ होनेकेकारण निजस्वरूपका मोक्षरूपत्व आज्ञा करते हुए तथा जीवोकी ओर से आश्रयकी प्रार्थना करते हुए उपर्युक्त शङ्काका समाधान करत हैं:—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्र एव अखिलार्थकृत, अहं शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयामि ।

सर्वसामर्थ्यशब्दका अर्थ सम्पूर्ण सामर्थ्य, सबका सामर्थ्य, सबके ऊपर जिसका सामर्थ्य है, इत्यादि है। अर्थात् भगवान् अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ करते हैं। यदि मर्यादा की रक्षाकरनी हो तो आप स्वयं भगवान् होनेके कारण आपमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदि धर्म तो सिद्ध ही हैं, अतः उसका दान कर जीवको फलप्रदान करते हैं। कभी कभी अक्षर ब्रह्ममें स्थित जीवको भी अपनेमें ले लेते हैं। क्योंकि सर्वत्र उनका ही सामर्थ्य है। "हे अर्जुन जो वस्तुएं विभूतिवाली होती है, शोभायुक्त होती है, बलिष्ठ होती है, वह सब मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है ऐसा जान।" "मैं समग्र जगत्का उपादान कारण हूं। मैं ही सबका प्रवर्तक हूं।" इत्यादि वाक्यानुसार जिसमें समग्र सामर्थ्य विद्यमान है, ऐसे सुदर्शनादि आयुध भी आपके पास विद्यमान हैं। उनसे भी आप भक्तके अनिष्ट का निवारण करत हैं। "जिसने विष्णुकी उपासना की है ऐसे भक्तों की, कदापि निष्फल न होनेवाले सुदर्शनादि आयुधोंसे सकल आपत्तियोंमें से, रक्षा करते हैं।" इस वाक्यसे भी ज्ञात होता है कि भक्तोंकी रक्षा भगवान् अपने आयुधोंसे करते हैं।

सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् आश्रित की रक्षा न करें, अथवा मर्यादामार्गसे ही फलदान करें, ऐसी स्थितिमें आश्रयकी क्या आवश्यकता है?

सब देशोंमें, वर्णोंमें, आश्रमोंमें किंवा कर्मादिमार्गमें निखिल अर्थकी पूर्ति करना ऐसा आपका स्वभाव है। "एक वार भी शरण आकर 'मैं आपका हूं' ऐसा कहनेवालेको अभयका दान करना यह मेरा व्रत है। फिर शरणमें आनेवाला चाहे जो हो।" "जो भक्त स्त्री, घर, पुत्र, मित्र, प्राण, धन, इसलोक और परलोक की पर्वाह न करके मेरे शरणमें आये हैं, उनका त्याग किस प्रकार कर सकता हूं?" इत्यादि वाक्योंसे एक वार भी यदि शरणमें आनेवाले की आप रक्षा करते हैं, तो फिर शरणमें आकर भक्ति करनेवाले भक्तकी आप रक्षा करें इसमें कहना ही क्याहै? मर्यादामार्गसे फलदान करनेमें भी अन्यकी अपेक्षाके विना ही—अनन्य होकर—भजन करनेवालेको भगवान् मर्यादाकी अपेक्षाके विना ही फलदान करते हैं। जब कि 'वेदमें कहा है इसलिये भजन करना चाहिये' इसप्रकार वेद मर्यादाकी रक्षा करनेकेलिये भजन करनेवालेको प्रभु मर्यादाके अनुसार फलदान करते हैं। जो मुझे जिसप्रकार भजते हैं उनको मै भी उसी प्रकार भजता हूं। भगवद्गीताके इस वाक्यमें आपने अपनी मर्यादाका उपदेश किया है। अतएव किसी प्रकारकी क्षति नहीं है। "लोकमें मैं भक्तोंके अधीन हूं ऐसा बतानेकेलिए बाललीलाओंके द्वारा व्रजके आनन्दको बढाया" "उसके पश्चात् श्रीकृष्णने बलभद्रके सहित समान वयस्के व्रजवासियोंके साथ व्रजवनिताओंको आनन्द देनेवाली क्रीडाएं की" "श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न हुए परमानन्दसे जिसके हृदयका ताप मिट गया है ऐसे गोपीजन मनोरथोंके अन्तको प्राप्त कर सके। अर्थात् उनको किसी प्रकारकी कामना न रही।" सबको मोक्षका दान देनेवाले मुकुन्द भगवान् मुक्तिप्रदान करते है, पर भक्ति नहीं।" इत्यादि

वाक्योंसे मृत्यु और यम भी भगवान्का आश्रय रखनेवालेके पास नहीं जा सकते तो अन्यकी क्या बात ? अर्थात् अनन्य आश्रय रखनेवालेके ऊपर सब प्रकारके सामर्थ्यसे युक्त भगवान् विराजमान होनेसे उसका कोई कुछ बिगाड नहीं सकता है। तथापि इतना तो विवेक अवश्य अनुसन्धेय है कि सर्वस्वनिवेदनपूर्वक शरण गमन करनेवालेका उद्धार आप अनायास ही करते हैं॥ १० ॥

"जीवमात्रके दशप्राण और ग्यारहवां आत्मा रहता है," इस श्रुतिवाक्यसे जिस तरह दश प्राणोंसे सब सिद्ध होता हैं, उसी तरह यह कृष्णाश्रय स्तोत्र ही भगवदीयोंका सब कार्य सिद्ध कर देता है। यह ज्ञान करानेके लिये श्रीमहाप्रभुजीने दशश्लोकोंसे कृष्णाश्रय स्तोत्रकी रचनाकी। जैसे जात्मा क्षयरहित है वैसे ही इस स्तोत्रके पाठ करनेसे अक्षय फल प्राप्त होता है, यह बतानेकेलिए आत्मारूप ग्यारहवे श्लोकमें कृष्णाश्रयस्तोत्रके पाठका फल निरूपण करते हैं:—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्॥ ११ ॥

अन्वयः—यः इदं कृष्णाश्रयं स्तोत्रं कृष्णसन्निधौ पठेत्, तस्य आश्रयः कृष्णः भवेत् इति श्रीवल्लभः अब्रवीत्।

सब पदार्थोंमेंसे निष्ठाका त्याग करके जिससे कृष्णकी सेवा हो सके अथवा जिससे कृष्णका आश्रय सिद्ध हो, या जिससे कृष्ण आश्रय बने वह कृष्णाश्रय है। यही कृष्णाश्रय है। कारण कि कृष्णाश्रय शब्दका यथार्थ अर्थ इसीमें समाविष्ट है। अतः इस कृष्णाश्रयका पाठ श्रीकृष्णके समीप हीनेसे ही कृष्णका आश्रय सिद्ध होता है अन्यथा नहीं। पाठमात्रसे कृष्णका आश्रय कैसे सिद्ध होगा ऐसी शङ्का भी न कननी चाहिये। कारण कि यह बात कहने वाला श्रीवल्लभ है। यहां आचार्यजी अपना नाम निर्देश करके बताते हैं, कि मैं भगवत्स्वरूपका ज्ञाता हूं, अतः मेरा वाक्य सत्य है इसमें अप्रामाण्यशङ्का न करनी चाहिये। आचार्यजीको सर्वोद्धारकेलिये भूतलपर अवतार लेना पडा है, जिसको सर्वोद्धारकेलिये अवतार लेनेकी भगवान्की आज्ञा है, वही भगवान्के यथार्थ स्वरूपको पहचान सकता है। अतः उनके वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये। इसीसे भगवत्कृपा होकर सब सिद्ध होगा॥ ११॥

श्रीमद्विठ्ठलनाथपादकमले संवन्द्य भक्त्या मुदा
कृष्णैकाग्रधियोथ तातचरणान् तादृक् पितृव्यानपि।
श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिकरे कल्यांण रायाभिधः
श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भूयान्मुदे सद्धियाम्।

इति श्रीविट्ठलताथ चरणैकतान श्रीकल्याणराय विरचित कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः सम्पूर्णः।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

मेरे चार शब्द

पुष्टिमार्गीय हिन्दी भाषाभाषी वैष्णवों की सङ्ख्या गुर्जरभाषाभाषियों की अपेक्षा कम नहीं है, तथापि हिन्दी भाषामें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंको अभाव पूर्ववत् विद्यमान ही है। इस महती त्रुटिको दूर करनेके अभिप्राय से "वैष्णव वैभव" मासिक पत्रका आविर्भाव हुआथा। दुर्भाग्यसे वह आज तिरोहित दशाका अनुभव कर रहा है। इसके अनन्तर साम्प्रदायिक मौलिक ग्रन्थोंका अनुवाद करना प्रारम्भ किया, आज इन पङ्क्तियोंका लेखक हिन्दी भाषामें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका अनुवाद कर रहा है, इस समय १०० फार्मसे अधिक होसके इतना साहित्य मौजूद है। षोडशग्रन्थों में "विवेक धैर्याश्रय" का अनुवाद गो० श्रीव्रजरत्न लालजी महाराज की सहायता से छप चुका है। "बालबोध" का अनुवाद भी आपही छपायेंगे ऐसी आशा है। यह "कृष्णाश्रय स्तोत्र" का अनुवाद गो० श्रीरणछोडलालजी महाराजकी कृपासे छपा है। ब्रह्मवाद सङ्ग्रह चौखम्बासिरिज के अध्यक्ष सेठ जयकृष्णदासजीने छपवाया है। यदि हिन्दी भाषाभाषी वैष्णव जनता इन ग्रन्थोंका उचित आदर करेगी तो शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, प्रमेयरत्नार्णव, प्रस्थानरत्नाकर, निबन्ध और काशीस्थ गो० श्रीगिरिधरजी महाराजकृत विवरणके अनुसार अणुभाष्यका अनुवाद आदि ग्रन्थ शीघ्रही छपसकेंगे।

यह कृष्णाश्रय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुजीके समयकी देशकालकी परिस्थितिका भलीप्रकार परिचय कराता है, जिस समय देश म्लेच्छाक्रान्त हो चुकाथा, उस समय पुष्टिमार्गका प्रचार हुआ है। ऐसे भयङ्कर समयमें धर्मका प्रचार करना कितना कठिनथा यह विचारशील पाठकों से छिपी हुई बात नहीं है। आज पुष्टिमार्गपर जो लोग आक्षेप करते हैं, उनको इस परम पुनीत सम्प्रादय का साहित्य देखना चाहिये। भाविक वैष्णवोंसे प्रार्थना है कि आप यदि अंपने बालकों को अन्य धर्मोंसे पराभूत देखना नहीं चाहते हैं, तो आप साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद कराके छपवाईये, और हिन्दी में छपने वाले ग्रन्थों को सहायता प्रदान कीजिये।

३ रा भोईवाडा, भुलेश्वर,
बम्बई, रथयात्रा १९८५

भवदीय
हरिशङ्कर शास्त्री
वेदान्त विशारद

शीघ्र ही छपकर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें

नित्यलीलास्थ गोस्वामीजीवनेशाचार्यजी महाराज (पोरबन्दर) सङ्गृहीत

वैष्णव द्विजाह्निक

अर्थात् उपनीत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका नित्यकर्म

इस आह्निकमें सन्ध्यादि नित्यकर्म करनेका पूरा परिचय कराया गया है। साथ ही वर्णविभागके अनुसार पद्धति भी समजानेवाला यह एक मात्र ग्रन्थ वैष्णवोंके लिये उपयोगी है ।

उपदेश मीमांसा

यदि आप शुद्धपुष्टि मार्गीय शरण मन्त्र और ब्रह्मसम्बन्धका रहस्य जानना चाहते है, विधर्मी वितण्डवादियोंका मुखमर्दन करना चाहते हैं । गायत्री मन्त्रका उपदेश होनेके पश्चात् अन्य मन्त्रों का उपदेश हो सकता है या नहीं ? अन्य देवोंकी उपासना छोडकर श्रीकृष्ण ही की उपासना क्यों करनी चाहिये इत्यादि प्रश्नोंका सरल हिन्दी भाषामें उत्तर जानना चाहते हैं तो इस ग्रन्थको अवश्य पढिये।

श्रीमद्गोपाल पूर्वतापिन्युपनिषद्

सम्प्रति विराजमान गोस्वामिबालकोंमें सर्वप्रथमग्रन्थकार विद्वद्रत्न गोस्वामी श्रीमदनिरुद्धाचार्यजी महाराजने इस ग्रन्थपर **ब्रह्मामृत भाष्य** और **पीयूषलहरी टीकाकी** रचना की है। इसका हिन्दीअनुवाद भी किया गया है। इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण ही परात्पर पुरुषोत्तम हैं, शिवब्रह्मादि देवता भी उनकी उपासना करते हैं, कर्म ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है इत्यादि विषयोंपर पूर्ण प्रकाश डालागया है। ग्रन्थ उच्चकोटिका है।

सब प्रकारकी पुस्तकें मिलनेका एकमात्र ठिकाना.

बुकसेलर गिरधरलाल, ज. शाह.
श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टिसिद्धान्त पुस्तक भण्डार,
श्रीलालबावाका मन्दिर, भुलेश्वर, बम्बई पो. नं. २.

થોડા વખતમાં છપાઈ બહાર પડનારાં પુસ્તકો.

નિત્યલીલાસ્થ શ્રીસુદ્દામાપુરીયવાદીભપગ-ચાનનગોસ્વામીશ્રીજીવનેશાચાર્ય સઙ્ગૃહીત-

વૈષ્ણવદ્વિજાહ્નિક. (મોટું, ગુજરાતી.)

અર્થાત્ ઉપનયન સંસ્કાર પામેલા બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય અને વૈશ્યોનું નિત્ય કર્તવ્ય કર્મ.

દરેકને સહેલું પડે તે ખાતર આ આહ્નિકમાં સન્ધ્યાદિ નિત્ય કર્મ કરવાની સંપૂર્ણ સમજણ ગુજરાતી ભાષામાં આપવાની સાથે મન્ત્રો પણ ગુજરાતી હરફમાં છાપવામાં આવ્યા છે. વૈષ્ણવદ્વિજોને-બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્યોને-વૈષ્ણવી પદ્ધત્યનુસાર સન્ધ્યાદિનિત્યકર્માનુષ્ઠાન સમજાવનારું માત્ર આ એક જ આહ્નિક છે. 'ગુજરાતી ન્યુસ' પ્રેસની સફાઇદાર છપાઇ તો મુલ્ક મશહૂર છે એટલે તે બાબત કશું વકતવ્ય હોય જ નહિ. **પખવાડીયામાં છપાઇને બહાર પડશે.**

वैष्णव-द्विजाह्निक. (हिन्दी.)

हिन्दी भाषाभाषी सज्जनोंकी खास सुविधाके लिए ऊपर बतलाये गये आह्निकका ही यह ठीक-ज्योंका त्यों हिन्दीमें अनुवाद है. एक सप्ताहमें छपकर तैयार हो जायगा.

वैष्णव संक्षिप्ताह्निक.

આ આહ્નિકમાં દન્તધાવન વિધિ, તિલકવિધિ, મુદ્રાવિધિ, ભગવત્સેવા, જપવિધિ, નિત્ય પાઠ કરવાનો ક્રમ, અન્યાશ્રય વગેરે અનેક ખાસ બાબતો ઉપર સંક્ષેપમાં સારો પ્રકાશ પાડવામાં આવ્યો છે. 'વૈષ્ણવોએ ટુંકામાં ટુંકુ કેટલું નિત્યકર્મ કરવું આવશ્યક છે' તે સમજવા આ આહ્નિક અવશ્ય ખરીદવું જોઇએ.

उपदेशमीमांसा.

તમારે તમારા શુદ્ધ સનાતન પુષ્ટિમાર્ગ ઉપર 'મુખમસ્તીતિ વકવ્યમ્'ના ન્યાયે શઙ્કાકરનારા આજકાલના વિતણ્ડાવાદીઓને શાસ્ત્રોનાં પ્રમાણો સાથે મુખતોડ જવાબ આપવો છે? તો 'મીમાંસા'ના સત્વર ગ્રાહક, બનો. તેમાં શું છે? 'ગાયત્રી મન્ત્રનો ઉપદેશ લીધા પછી બીજો ઉપદેશ લેવાય કે નહિ?' 'અન્ય દેવના મન્ત્રો છોડીને શ્રીકૃષ્ણના મન્ત્રોનો ઉપદેશ લેવામાં વિશેષતા શી? 'મન્ત્રોપદેશ કોઇ પણ ઉત્તમ બ્રાહ્મણ પાસેથી ન લેતાં શુદ્ધાદ્વૈત વૈષ્ણવ વેલ્લનાટીય બ્રાહ્મણ શ્રીવલ્લભકુલના આચાર્યોં પાસેથી જ લેવાનું કારણ શું?' 'બ્રહ્મસમ્બન્ધ જ લેવાનું તાત્પર્ય શું? 'દોષોની નિવૃત્તિ તો પ્રાયશ્ચિતાદિકથી પણ શકય છે તો પછી બ્રહ્મસમ્બન્ધ જ લેવામાં વિશેષતા શી? 'બ્રહ્મસમ્બન્ધમન્ત્રોપદેશ લીધા પછી થતા દોષોની નિવૃત્તિ શી રીતે કરવી?' સ્ત્રીને તો પતિ જ ગુરૂ છે તો પછી મન્ત્રોપદેશ લઇ બીજો ગુરૂ કરવાની આવશ્યકતા શી?' 'પતિ તથા સ્ત્રી એક ગુરૂ પાસેથી મન્ત્રોપદેશ લઇ શકે કે કેમ?' નાનાં બાળકોને મન્ત્રોપદેશ આપવાથી શું ફળ?' 'ચોરાશી તથા બસ્સોબાવન વૈષ્ણવોની વાર્તામાં તમામને શ્રી ઠાકોરજીસાનુભાવ હતા તે આજના સમયમાં કેમ નથી?' આવા અનેક જટિલ પ્રશ્નોના જવાબ સચોટ રીતે તથા યુક્તિપૂર્વક આ ગ્રન્થમાં આપવામાં આવ્યા છે. દરેક વૈષ્ણવે આ પુસ્તક અવશ્ય વાંચવું જોઇએ. પંદર દિવસમાં બહાર પડશે.

મળવાનું ઠેકાણું:—

બુકસેલર, ગિરિધરલાલ, જ. શાહ,

C/o શ્રી જીવનેશાચાર્યપુષ્ટિસિદ્ધાન્ત પુસ્તક ભંડાર, લાલબાવામન્દિર, મુંબઈ નં. ૨.

નોટ-ઉપલા એડ્રેસને તમારી બુકમાં નોંધી લો; કારણ કે વૈષ્ણવ સંપ્રદાયનાં તમામ જાતનાં પુસ્તકો તથા ચિત્રોને અચૂક રીતે તથા ટાઇમસર સપ્લાઇ કરનાર આ એક જ ઠેકાણું છે.